महापण्डित राहुल सांकृत्यायन के जैनधर्म सम्बन्धी मन्तव्यों की समालोचना

- प्रो. सागरमल जैन

महापण्डित राहुल सांकृत्यायन् भारतीय वाङ्मय के विश्रुत विद्वान् थे। हिन्दी साहित्य की विविध-विधाओं में भारतीय वाङ्मय को उनका अवदान अविस्मरणीय है। दर्शन के क्षेत्र में राहुलजी ने जितना अधिक पाश्चात्य दर्शनों, विशेष रूप से द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद एवं बौद्धदर्शन के सम्बन्ध में लिखा, उसकी अपेक्षा जैनदर्शन के क्षेत्र में उनका लेखन बहुत ही अल्प है। उनके ग्रन्थ "दर्शन-दिग्दर्शन" में वर्धमान महावीर और अनेकान्तवादी जैन दर्शन के सम्बन्ध में जो कुछ लिखा है, उसे अथवा बौद्धग्रन्थों में आने वाली जैनधर्म-दर्शन सम्बन्धी समीक्षाओं के हिन्दी अनुवाद को छोड़कर उन्होंने जैनदर्शन के क्षेत्र में कुछ लिखा हो, ऐसा मुझे ज्ञात नहीं। अतः यहाँ जैनदर्शन के क्षेत्र में उनके विचारों की समीक्षा इन्हीं ग्रन्थांशों के आधार पर की गई है।

उन्होंने अपने ग्रन्थ "दर्शन-दिग्दर्शन" में जैन परम्परा का उल्लेख विशेषरूप से दो स्थलों पर किया है -- एक तो बुद्ध के समकालीन छः तीर्थंकरों के सन्दर्भ में और दूसरा जैनदर्शन के स्वतन्त्र प्रतिपादन के क्षेत्र में। बौद्धग्रन्थों में वर्णित छः तीर्थंकरों में वर्द्धमान महावीर का उल्लेख उन्होंने सर्वज्ञतावादी के रूप में किया है, किन्तु उन्होंने यह समग्र विवरण बौद्धग्रन्थों के आधार पर ही प्रस्तुत किया है। बुद्ध के समकालीन छः तीर्थंकरों और विशेष रूप से वर्द्धमान महावीर के सन्दर्भ में यदि वे बौद्धेतर स्रोतों को भी आधार बनाते तो उनके साथ अधिक न्याय कर सकते थे। क्योंकि बौद्धग्रन्थों में महावीर का जो चित्रण निर्ग्रन्थ ज्ञातृपुत्र (नाटपुत्त) के रूप में है उसमें सत्यांश तो है, किन्तु वह एक आलोचक दृष्टि से ही लिखा गया है, अतः उनके व्यक्तित्व को सम्यक् रूप में प्रस्तुत नहीं करता है। महावीर के सम्बन्ध में दीघनिकाय के आधार पर वे लिखते हैं --

"महावीर की मुख्य शिक्षा को बौद्धत्रिपिटक में इस प्रकार उद्धृत किया गया है -- निर्ग्रन्थ (जैन साधु) चार संवरों (संयमों) से संवृत्त रहता है। 1. निर्ग्रन्थ जल के व्यवहार का वारण करता है, (जिससे जल के जीव न मारे जावें), 2. सभी पापों का वारण करता है, 3. सभी पापों के वारण करने से वह पाप रहित (धूतपाप) होता है, 4. सभी पापों का वारण में लगा रहता है। ... चूँकि निर्ग्रन्थ इन चार प्रकार के संवरों से संवृत्त रहता है इसलिए वह -- गतात्मा (अनिच्छुक), यतात्मा (संयमी) और स्थितात्मा कहलाता है।" [दर्शनदिग्दर्शन, पृ. 495]

इस विवरण में महावीर की शिक्षाओं को चार्तुयाम संवर के रूप में प्रस्तुत करते हुए, उन्होंने जिस चार्तुयाम संवर का उल्लेख किया है, वस्तुतः वह चार्तुयाम संवर का मार्ग महावीर का नहीं, पार्श्व का है। परवर्तीकाल में जब पार्श्व की निर्ग्रन्थ परम्परा महावीर की परम्परा में

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सम्मिलित हो गयीं, तो त्रिपिटक संकलनकर्त्ताओं ने दोनों धाराओं को एक मानकर पार्श्व के विचारों को भी महावीर के नाम से ही प्रस्तुत किया। त्रिपिटक के संकलन कर्त्ताओं की इस भ्रान्ति का अनुसरण राहुलजी ने भी किया और अपनी ओर से टिप्पणी के रूप में भी इस भूल के परिमार्जन का कोई प्रयत्न नहीं किया। जबकि उनके सहकर्मी बौद्धभिक्षु जगदीश काश्यपजी ने इस भूल के परिमार्जन का प्रयत्न दीघनिकाय की भूमिका में विस्तार से किया है, वे लिखते हैं -- "सामञ्ञफलसुत्त" में वर्णित छः तैर्थिकों के मतों के अनुसार, अपने-अपने साम्प्रदायिक संगठनों के केन्द्र अवश्य रहे होंगे। इनके अवशेष खोजने के लिए देश के वर्तमान धार्मिक-जीवन में खोज करना सार्थक होगा। कम से कम "निगण्ठ-नातपुत्त" से हमलोग निश्चित रूप से परिचित हैं। वे जैनधर्म के अन्तिम तीर्थंकर भगवान महावीर ही हैं। पालि-संस्करण में वे ही "चातुर्याम संवर" सिद्धान्त के प्रवर्तक कहे जाते हैं। सम्भवतः ऐसा भूल से हो गया है। वास्तव में "चातुर्याम-धर्म" के प्रवर्तक उनके पूर्ववर्ती तीर्थंकर पार्श्वनाथ थे -- सव्वातो पाणातिवायाओ वेरमणं एवं मुसावायाओ वेरमणं, सव्वातो अदिन्नादाणाओ वेरमणं, सव्वातो बहिद्धादाणाओ वेरमणं (ठाणांग (ठाण 4), पृ. 201, सूत्र 266)।

उपर्युक्त वर्णित "चातुर्याम संवर" सिद्धान्त में परिग्गहवेरमणं" नामक एक और व्रत जोड़कर पार्श्वनाथ के परवर्ती तीर्थंकर महावीर ने "पंचमहाव्रत-धर्म" का प्रवर्त्तन किया। [ज्ञातव्य है कि यहाँ काश्यपजी से भी भूल हो गयी है वस्तुतः महावीर ने परिग्रह विरमण नहीं, मैथुनविरमण या ब्रह्मचर्य का महाव्रत जोड़ा था। "बहिद्धादाण" का अर्थ तो परिग्रह है ही। पार्श्व स्त्री को भी परिग्रह ही मानते थे।]

यह भी विशेष रूप से ध्यान देने योग्य है कि जिस रूप में पालि में "चातुर्यामसंवर" सिद्धान्त का उल्लेख मिलता है, वैसा जैन साहित्य में कहीं भी उपलब्ध नहीं होता। पालि में यह इस प्रकार वर्णित है -- "सब्बवारिवारिता च होति, सब्बवारियुत्तो च, सब्बवारिधुतो च, सब्बवारिफुटो" और इसका अर्थ भी स्पष्ट ज्ञात नहीं होता। इसे देखकर यह ज्ञात होता है कि सम्भवतः यह तोड़-मरोड़ के ही कारण है।" [दीघनिकाय-नालंदासंस्करण, प्रथमभाग की भूमिका, पृ. १३-१४]। अतः राहुलजी ने चार संवरों का उल्लेख जिस रूप में किया है, वह और दीघनिकाय के इस अंश का जो हिन्दी अनुवाद राहुल जी ने किया है वह भी, निर्दोष नहीं है। दीघनिकाय का वह मूलपाठ, उसकी अट्टकथा और अनुवाद इस प्रकार है -- "एवं वुत्ते, भन्ते, निगण्ठो नाटपुत्तो मं एतदवोच - इध महाराज, निगण्ठो चातुयामसंवरसंवुतो होति ? महाराज निगण्ठो कथं च महाराज निगण्ठो चातुयाम संवरोसंवुतो होति ? इध सब्बवारिवारितो च होति, सब्बवारियुततो च, सब्बवारिधुतो च, सब्बवारिफुटो च एवं खो, महाराज, निगण्ठो चातुयामसंवरसंवुतो होति -- अयं वुच्चाति, महाराज निगण्ठो गतत्तो च यतत्तो च ठितत्तो चा ति।" (दीघनिकाय २/५/२८) नाटपुत्तपादे चातुयामसंवरसंवुतो हि चतुकोट्ठासेन संवरेन संवुतो। सब्बवारितो चाति वारितसब्बउदको पटिक्खित्तसब्बसीतोदको ति अत्थो। सो किर सीतोदके सत्तसञ्ञ होति, तस्मा न तं वलञ्जेति। सब्बवारियुत्तो ति सब्बेन पापवारणेन युत्तो। सब्बवारिधुतो ति सब्बेन पापवारणेन धुतपापो। सब्बवारिफुटो ति सब्बेन पापवारणेन फुट्ठो।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गतत्तो ति कोटिप्पत्तचित्तो। यतत्तो ति संयतचित्तो। ठितत्तो (दी.नि., 1.50) ति सुप्पतिट्ठितचित्तो। एतस्स वादे किंचि सासनानुलोमं पि अत्थि, असुद्धलद्धितायन सब्बा दिट्ठयेव जाता। -- सुमंगल विलासिनी अट्टकथा (पृ. १८६) ऐसा कहने पर भन्ते। निगण्ठनाथपुत्त ने यह उत्तर दिया -- महाराज ! निगण्ठ चार संवरों से संवृत्त रहता है। महाराज ! निगण्ठ चार संवरों से कैसे संवृत रहता है ? महाराज ! 1. निगण्ठ जल के व्यवहार का वारण करता है (जिसमें जल के जीव न मारे जावें), 2. सभी पापों का वारण करता है, 3. सभी पापों के वारण करने से धूतपाप होता है, 4. सभी पापों के वारण करने में लगा रहता है। महाराज निगण्ठ इस प्रकार चार संवरों से संवृत रहता है। महाराज निगण्ठ इन चार प्रकार के संवरों से संवृत रहता है, इसीलिए वह निर्ग्रन्थ, गतात्मा, यतात्मा और स्थितात्मा कहलाता है।"

वस्तुतः यहाँ राहुल जी जिन्हें चातुर्याम संवर कह रहे हैं, वे चातुर्याम संवर न होकर निर्ग्रन्थ साधक चातुर्याम संवर का पालन किस प्रकार करता है उसके सम्बन्ध में उल्लेख है। मेरी दृष्टि में यहाँ "कथं" का अर्थ कौन से न होकर किस प्रकार है चातुर्याम के रूप में जैनागमों में जिनका विवरण प्रस्तुत किया गया है वे निम्न हैं --

1. प्राणातिपात विरमण
2. मृषावाद् विरमण
3. अदत्तादान विरमण
4. बहिर्दादान विरमण (परिग्रह त्याग)

जैन आगम स्थानांग, समवायांग आदि में चार्तुयाम संवर का उल्लेख इसी रूप में मिलता है।

दीघनिकाय के इस अंश का जो अर्थ राहुलजी ने किया है वह भी त्रुटिपूर्ण है। प्रथमतः यहाँ वारि शब्द का अर्थ जल न होकर वारण करने योग्य अर्थात् पाप है। सूत्रकृतांग में वीरस्तुति में महावीर को "वारिय सव्ववारं" (सूत्रकृतांग, 1/6/28) कहा गया है। यहाँ "वार" शब्द "पाप" के अर्थ में ही है, जल के अर्थ में नहीं है। पुनः जैन मुनि मात्र सचित्तजल (जीवनयुक्त जल) के उपयोग का त्याग करता है, सर्वजल का नहीं। अतः सुमंगलविलासिनी अट्टकथाकार एवं राहुलजी द्वारा यहाँ वारि या जल अर्थ करना अयुक्तिसंगत है। क्योंकि एक वाक्यांश में "वारि" का अर्थ जल करना और दूसरे में उसी "वारि" शब्द का अर्थ "पाप" करना समीचीन नहीं है। चूँकि निर्ग्रन्थ सचित्त (जीवन-युक्त) जल के त्यागी होते थे, स्नान नहीं करते वस्त्र नहीं धोते थे। अतः इन्हीं बातों को आधार मानकर यहाँ "सव्ववारिवारितो" का अर्थ जल का त्याग करते हैं, यह मान लिया गया, किन्तु स्वयं सुमंगल विलासिनी टीका या अट्टकथा में भी स्पष्ट उल्लेख है कि निर्ग्रन्थ मात्र सचित्त जल का त्यागी होता है, सर्वजल का नहीं, अतः वारि का अर्थ जल करना उचित नहीं है। दीघनिकाय की अट्टकथा में "वारि" का जो भ्रान्त अर्थ जल किया गया था, राहुलजी का यह अनुवाद भी उसी पर आधारित है। अतः इस भ्रान्त अर्थ

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

करने के लिये राहुलजी उतने दोषी नहीं हैं, जितने सुमंगलविलासिनी के कर्त्ता। सम्भवतः निर्ग्रन्थों ने जलीय जीवों की हिंसा से बचने के लिये जल के उपयोग पर जो प्रतिबन्ध लगाये गये थे, उसी से अर्थ और टीका में यह भ्रान्ति हुई है। आगे इसी क्रम में उन्होंने स्वयं "वारि" का अर्थ "पाप" करके सब्बवारियुत्तो का अर्थ वह सब पापों का वारण करता है, किया है। किन्तु यह अर्थ मूलपाठ के अनुरूप नहीं है, क्योंकि यहाँ वारि का अर्थ पाप करके भी युत्तो का अर्थ वारण करना -- किया गया है, वह समुचित नहीं है, क्योंकि पालीकोशों के अनुसार युत्तो शब्द का अर्थ किसी भी स्थिति में "वारण" नहीं हो सकता है। कोश के अनुसार तो इस युत्त का अर्थ लिप्त होता है, अतः इस वाक्यांश का अर्थ होगा -- वह सर्व पापों से युक्त या लिप्त होता है -- जो निश्चय ही इस प्रसंग में गलत है। मेरी दृष्टि में यहाँ मूलपाठ में भ्रान्ति है -- सम्भवतः मूलपाठ "युत्तो" न होकर "यतो" होना चाहिए। क्योंकि मूलपाठ में आगे निर्ग्रन्थ के लिये "यतो" विशेषण का प्रयोग हुआ है, जो "यतो" पाठ की पुष्टि करता है। यदि हम मूलपाठ "युत्तो" ही मानते हैं उसे "अयुत्तो" मानकर वारि+अयत्तो की संधि प्रक्रिया में "अ" का लोप मानना होगा। प्राकृत व्याकरण और सम्भवतः पालि व्याकरण में भी स्वर-सन्धि के नियमों में दो स्वरों की सन्धि में विकल्प से एक स्वर का लोप माना जाता है। अतः मूल पाठ "अयुत्तो" होना चाहिये, किन्तु सुमंगलविलासिनी में ऐसा कोई निर्देश नहीं है। (पठमोभागो, पृ.189), अपितु उसमें संधि तोड़कर "युत्तो" पाठ ही है। किन्तु यतो पाठ मानने पर इस अंश का अर्थ होगा, वह सब पापों के प्रति संयमवान या उनका नियंत्रण करने वाला होता है। अतः राहुल जी का यह अनुवाद भी मेरी दृष्टि में मूलपाठ से संगतिपूर्ण नहीं है, फिर भी उन्होंने वह सर्वपापों का वारण करता है, ऐसा जो अर्थ किया है, वह सत्य के निकट है। मूलपाठ भ्रान्त और टीका के अस्पष्ट होते हुए भी, उन्होंने यह अर्थ किस आधार पर किया मैं नहीं जानता, सम्भवतः यह उनकी स्वप्रतिभा से ही प्रसूत हुआ होगा। फिर भी पालि के विद्वानों को इस समस्या पर विचार करना चाहिए। इसके आगे सब्बवारिधुतो का अर्थ -- वह सभी पापों से रहित होता है-- संगतिपूर्ण है। किन्तु आगे सब्बवारिफुटो का अर्थ -- वह सभी पापों से रहित होता है -- संगतिपूर्ण है। किन्तु आगे सब्बवारिफुटो का अर्थ पुनः मूल से संगति नहीं रखता है। राहुलजी ने इसका अर्थ वह सभी पापों के वारण में लगा रहता है -- किस प्रकार किया मैं नहीं समझ पा रहा हूँ। क्योंकि किसी भी स्थिति में "फुटो" का अर्थ-वारण करने में लगा रहता है, नहीं होता है। पालि के विद्वान इस पर भी विचार करें। मूल के फुटो अथवा सुमंगलविलासिनी टीका के फुटो का संस्कृत रूप स्पृष्ट या स्पष्ट होगा। इस आधार पर इसका अर्थ होगा वह सब पापों से स्पृष्ट अर्थात् स्पर्शित या व्याप्त होता है, किन्तु यह अर्थ भी संगतिपूर्ण नहीं लगता है-- निर्ग्रन्थ ज्ञातपुत्र स्वयं अपने निर्ग्रन्थों को सब पापों से स्पर्शित तो नहीं कह सकते हैं। यहाँ भी राहुल जी ने अर्थ को संगतिपूर्ण बनाने का प्रयास तो किया, किनतु वह मूलपाठ के साथ संगति नहीं रखता है। पालि अंग्रेजी कोश में राइसडेविड्स ने भी इन दोनों शब्दों के अर्थ निश्चय में कठिनाई का अनुभव किया है। मेरी दृष्टि में यहाँ भी या तो मूलपाठ में कोई भ्रान्ति है या पालि व्याकरण के स्वर संधि के नियम से "अफुटो" के "अ" का लोप हो गया है। मेरी दृष्टि में मूलपाठ होना चाहिए -- सब्बवारिअफुटो, तभी इसका अर्थ होगा वह सर्व पापों से अस्पर्शित

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

होता है। यहाँ भी राहुलजी अर्थ की संगति बैठाने का जो प्रयास किया है वह उचित तो है। किन्तु मूल पाठ एवं अट्टकथा (टीका) के सम्बन्ध में उनकी ओर कोई टिप्पणी नहीं होना पाठक के लिये एक समस्या बन जाती है। मेरी दृष्टि में दीघनिकाय के उस समग्र अंश का पाठ शुद्धि के पश्चात् वास्तविक अर्थ इस प्रकार होना चाहिये -- "हे महाराज, निर्ग्रन्थ चातुर्याम संवर से संवृत होता है, वह चार्तुयाम संवर से किस प्रकार संवृत होता है ? हे महाराज ! निर्ग्रन्थ सब पापों का वारण करता है। वह सर्वपापों के प्रति संयत या उनका नियन्त्रण करने वाला होता है। वह सभी पापों से रहित (धूत) और सभी पापों से अस्पर्शित होता है।

इसी प्रसंग में आदरणीय राहुलजी ने महावीर को सर्वज्ञातावादी कहा है (दर्शन-दिग्दर्शन, पृ. 494) यह सत्य है कि महावीर को प्राचीनकाल से ही "सर्वज्ञ" कहा जाता था। सूत्रकृतांग के वीरस्तुति नामक छठे अध्याय में उन्हें सर्वप्रथम सर्वज्ञ (सवन्नू) कहा गया है -- किन्तु प्राचीनकाल में जैन परम्परा सर्वज्ञ का अर्थ आत्मज्ञ ही होता था। आचारांग के -- जे एगं जाणई ते सव्वं जाणई" एवं भगवती के "केवलि सिय जाणइ सिय ण जाणइ" -- पाठ से तथा कुन्दकुन्द के इस कथन से "केवलि निश्चय नय से केवल आत्मा को जानता है"-- इसी तथ्य की पुष्टि होती है। सर्वज्ञ का यह अर्थ है कि वह सर्वद्रव्यों एवं पर्यायों का त्रिकाल ज्ञाता होता है, परवर्तीकाल में निर्धारित हुआ। आगे चलकर सर्वज्ञ का यही अर्थ रूढ़ हो गया और सर्वज्ञ के इसी व्युत्पत्तिपरक अर्थ को मानकर बौद्ध त्रिपिटक में उनकी सर्वज्ञता की निन्दा भी की गई। "सर्वज्ञ" या "केवलि" शब्द के प्राचीन पारिभाषिक एवं लाक्षणिक अर्थ के स्थान पर इस व्युत्पत्तिमूलक अर्थ पर बल देने से ही यह भ्रान्ति उत्पन्न हुई है। किन्तु यह दुर्भाग्यपूर्ण घटना बुद्ध और महावीर दोनों के साथ घटित हुई, जो बुद्ध सर्वज्ञतावाद के आलोचक रहे, उन्हें भी परवर्ती बौद्ध साहित्य में उसी अर्थ में सर्वज्ञ मान लिया गया है, जिस अर्थ में परवर्ती जैन परम्परा में तीर्थंकरों को और न्याय परम्परा में ईश्वर को सर्वज्ञ कहा गया है। वास्तविक रूप में प्राचीनकाल में महावीर को उस अर्थ में सर्वज्ञ नहीं कहा जाता था, जिस अर्थ में पालित्रिपिटक व परवर्ती जैन साहित्य में उन्हें सर्वज्ञ कहा गया है। दुर्भाग्य से राहुल जी ने भी सर्वज्ञ का यही परवर्ती अर्थ ले लिया है। जबकि सर्वज्ञ का प्राचीन अर्थ तो जैन परम्परा में आत्मज्ञ और बौद्ध परम्परा में हेय, ज्ञेय और उपादेय का ज्ञाता ही रहा है।

राहुल जी का यह कथन भी किसी सीमा तक सत्य है कि जैनधर्म में प्रारम्भ से ही शारीरिक कार्यों की प्रधानता पर शारीरिक तपस्या पर बल दिया गया है (दर्शन-दिग्दर्शन, पृ.495-496)। किन्तु उनकी इस धारणा का आधार भी बौद्धत्रिपिटक साहित्य में महावीर के जीवन और दर्शन का जिस रूप में प्रस्तुतिकरण हुआ है वही है -- यहाँ भी उन्होंने जैन आगमों को देखने का प्रयास नहीं किया है। वास्तविकता तो यह है कि जैनदर्शन भी बौद्धों के समान ही मानसकर्म को ही प्रधान मानता है, फिर भी इतना अवश्य सत्य है कि वह कायिककर्म या कायिकसाधना को मानसिककर्म की अनिवार्य फलश्रुति मानता है वह कहता है कि जो विचार में होता है वही आचार में होता है। विचार (मानसकर्म) और आचार (कायिककर्म) का द्वैत उसे मान्य नहीं है। विचार से कुछ और आचार में कुछ, इसे जैनधर्म आत्म प्रवञ्चना मानता है, मन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

से सत्य को समझते हुए अन्यथा रूप में आचरण करना पाप है। मन में अहिंसा और करुणा तथा व्यवहार में क्रूरता या हिंसा यह छलना ही है।

राहुलजी की यह टिप्पणी भी सत्य है कि महावीर ने स्वयं अपने जीवन में और जैनसाधना में शारीरिक तपों को आवश्यक माना है। किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि महावीर मात्र देह-दण्डन या आत्म-पीड़न के समर्थक थे। उन्होंने उत्तराध्ययन में तप के बाह्य और आभ्यान्तर ऐसे दो पक्ष माने थे और दोनों पर ही समान बल दिया था। स्वाध्याय, सेवा और ध्यान भी उनकी दृष्टि में तप के ही महत्त्वपूर्ण अंग है। अतः राहुलजी का महावीर को मात्र शारीरिक पक्ष पर बल देने वाला और आभ्यान्तर पक्ष की अवहेलना कर लेने वाला, मानना-समुचित नहीं है।

अनेकान्तवादी जैनदर्शन के सम्बन्ध में उनकी यह टिप्पणी है कि अनेकान्त और स्याद्वाद का विकास संजय वेलट्टीपुत्त के विक्षेपवाद से हुआ, भी पूर्णतः सत्य नहीं है (दर्शन-दिग्दर्शन, पृ. 595)। वस्तुतः संजय के विक्षेपवाद का बौद्धों के विभज्यवाद एवं शून्यवाद का और जैनों के अनेकान्तवाद और स्याद्वाद का विकास औपनिषदिक चतुष्कोटियों और विभज्यवादी दृष्टिकोण से हुआ है।

दर्शन-दिग्दर्शन (पृ.५६७) में एक स्थल पर उन्होंने जैनधर्म के जिन पाँच तत्त्वों का उल्लेख किया वह भी भ्रान्त है -- उन्होंने जिन पाँच तत्त्वों का उल्लेख किया है वे हैं -- जीव, अजीव, धर्म, आकाश और पुद्गल। इसमें अजीव को निरर्थक रूप में जोड़ा है और "अधर्म" को छोड़ दिया है, धर्म, अधर्म, आकाश और पुद्गल सभी अजीव ही माने गये हैं।

जैनधर्म के सम्बन्ध में राहुलजी की यह टिप्पणी कि उनकी पृथ्वी, जल आदि के जीवों की अहिंसा के विचार ने जैनधर्म की अनुयायियों को कृषि के विमुख कर वणिक बना दिया। वे उत्पादक श्रम से हटकर परोपजीवी हो गये। उनका यह मन्तव्य भी किसी सीमा तक उचित तो है -- किन्तु पूर्णतः सत्य नहीं है। आज भी बुन्देलखण्ड, मेवाड़, महाराष्ट्र और कर्नाटक में जैनजातियाँ कृषि पर आधारित हैं और उन्हें कृषिकर्म करते हुए देखा जा सकता है। प्राचीन आगम भगवतीसूत्र से इस प्रश्न पर कि कृषिकर्म में कृमि आदि की हिंसा की जो घटना घटित हो जाती है, उसके लिये गृहस्थ उत्तरदायी है या नहीं, गंभीर रूप से विचार हुआ है। उसमें यह माना गया है कि कोई भी गृहस्थ की जाने वाली हिंसा का उत्तरदायी होता है, हो जाने वाली हिंसा का नहीं। कृषि करते हुए जो प्राणीहिंसा हो जाती है, उसके लिये गृहस्थ उत्तरदायी नहीं है। इसी प्रकार जैनों का अहिंसा का सिद्धान्त व्यक्ति को कायर या भगोड़ा नहीं बनाता है। वह गृहस्थ के लिये अक्रामक हिंसा का निषेध करता है, सुरक्षात्मक हिंसा (विरोधी-हिंसा) का नहीं। इस प्रकार हम देखते हैं कि जैनधर्म के सम्बन्ध में राहुलजी के मन्तव्य आंशिक सत्य होकर भी अपूर्ण या एकांगी है। क्योंकि उन्होंने इस सम्बन्ध में जैन स्रोतों की खोज-बीन का प्रयत्न नहीं किया है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org